International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232
Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 4; Issue 6; December 2018; Page No. 50-51

श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ

आशा रानी वर्मा
एसोसियेट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग, नेशनल (पी0जी0) कॉलेज, भोगाँव (मैनपुरी), उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश
यज्ञ वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है। गीता के नवें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं को ही यज्ञ रूप कहते हैं। चतुर्थ अध्याय में ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, इन्द्रियसंयमरूपी यज्ञ अन्तःकरणसंयमरूपी यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ आदि के बारे में बताया गया है। यज्ञ से सृष्टि क्रम चलता है। गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप कर्म कथमपि त्याज्य नहीं हैं। देवता प्रदत्त द्रव्यों का समस्त प्राणि संसार के लिए त्याग ही यज्ञ है। इन्द्रियरूपी अग्नि में विषयरूपी द्रव्यों की आहुति देने वाले पुरूष के लिए सुख रात्रि के समान के हो जाते हैं। इस प्रकार यज्ञ साधना करने वाला अन्त में परमात्म प्राप्ति द्वारा परम पुरूषार्थ को प्राप्त कर लेता है। यज्ञ से मानव का आत्मकल्याण तो होता ही है, समाज का भी कल्याण यज्ञमय जीवन में निहित है।

मूल शब्दः श्रीमद्भगवद्गीता, यज्ञ, देवता, इन्द्रिय संयम

प्रस्तावना
यज्ञ वैदिक काल से ही भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। यज्ञ कर्मकांडपरक क्रिया से लेकर आत्मपरिष्कार की साधना तक विस्तृत है। यज्ञ के तीन अर्थ दान, संगतिकरण और देवपूजन हैं। जिनके व्यापक अर्थ श्रीमद्भगवदगीता में मिलते हैं। मानवमात्र का मार्गदर्शन करने वाली गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्मा ने कर्तव्यकर्मों के विधान सहित प्रजा की रचनाकर उनसे कहा कि वे (प्रजाजन) अपने अपने कर्तव्यों का निर्वहणरूपी यज्ञ द्वारा वृद्धि को प्राप्त करें। इस प्रकार यज्ञभावित देवता तुम्हारे अभीष्ट भोगों को प्रदान करेंगे।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्।।
देवान् भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।[1]

यजुर्वेद में यज्ञ की महिमा को इस प्रकार निरूपित किया गया है –

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरूषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ते।।[2]

भारतीय ज्ञान और दर्शन के मूल वेदों में यज्ञ को ब्रह्माण्ड की नाभि बताया गया है 'यज्ञो भुवनस्य नाभिः'।[3] अथर्ववेद में यज्ञ को पृथ्वी–धारण का कारण बताया गया है – यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।[4] गीता के नवे अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं को ही यज्ञ रूप कहा है –

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।[5]

गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान विविध यज्ञों के विषय में बताते हैं। वे इस प्रकार हैं – ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, इन्द्रियसंयमरूपी यज्ञ, अन्तःकरण संयमरूपी यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तप यज्ञ, स्वाध्यायरूपी ज्ञान यज्ञ, प्राणायमरूपी प्राण यज्ञ। इन विविध यज्ञों के वर्णन के पश्चात श्रीकृष्ण ने यज्ञसम्पादन द्वारा बन्धन मुक्ति की घोषणा की है –

एवं बहुविधा यज्ञा विता ब्रह्मणों मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।[6]

यज्ञ से ही यह सृष्टिक्रम चलता है क्योंकि यज्ञ से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से प्राण और प्राण से जीवन यही सृष्टिक्रम है। भगवान कहते हैं –

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।[7]

दूसरे शब्दों में यदि कहें कि यज्ञ ही जीवन है और जीवन एक यज्ञ है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। सांसारिक सभी चलाचल वस्तुयें यज्ञ ही हैं। यही कारण है कि यज्ञों के अनुष्ठान में सविधि और सनियम पर बल दिया गया है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से भी देखा जाये तो शरीर धारण करने के लिए ग्रहण किया जाने वाला भोज्य पदार्थ भी प्राण रूप देवता के लिए यज्ञ की समिधा ही होता है। गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपकर्म कथमपि त्याज्य नहीं है क्योंकि ये तीनों कर्म तो बुद्धिजीवियों को पवित्र करने वाले होते हैं –

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।[8]

भगवान् का उक्त कथन मानव को मनसा–वाचा–कर्मणा यज्ञीय भाव रखने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति की सभी क्रियायें मन, वचन और कर्म पर ही आश्रित होती है। मन में विचार उठता है, वचन से करने का संकल्प लिया जाता है और कर्मेन्द्रियों द्वारा उसको व्यवहार में लाया जाता है। अतएव मानव का प्रत्येक कर्म यज्ञ कैसे बने, इसके लिए भी गीता के द्वारा मार्गदर्शन किया गया है। प्रत्येक विहित कर्म को ब्रह्मोद्भव स्वीकारना, फलासक्ति के त्यागपूर्वक कर्तव्यकर्मों का निष्पादन, भगवदर्पण बुद्धि से भोगों का उपभोग, गुण कर्म विभाग की वास्तविकता का ज्ञान तथा इन्द्रियसंयमरूप यज्ञ आदि मूल बातों को ध्यान से रखने से प्रत्येक कार्य यज्ञ बन सकता है। यही कारण है कि यज्ञार्थ से अन्य कर्म को बन्धनकारक कहा गया है –

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंग समाचरः।।[9]

यही नहीं अपने लिए नियत कर्म को करने वाला व्यक्ति बन्धनमुक्त रहता है। इस प्रकार मानव के सर्वविध कल्याण का हेतु सिद्ध होता है यज्ञ। यज्ञ को परिभाषित करते हुए कात्यायन लिखते हैं कि 'द्रव्यदेवतात्यागः' अर्थात् द्रव्य, देवता और त्याग यज्ञ के लक्षण हैं। यदि थोड़ा गम्भीरता से विचार किया जाये तो ब्रह्म की रमणेच्छा 'एकोऽहं बहुस्याम्' से आविर्भूत इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ ही द्रव्य है और हमारा इच्छापूर्तिविषयक द्रव्यों के दान का कार्यभार देवताओं का है। जैसा कि 'इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः', इस वचन से सिद्ध होता है। देवता प्रदत्त इन द्रव्यों का समस्त प्राणी संसार के लिए त्याग ही यज्ञ है। सम्भवतः इसी सिद्धान्त को आधार रूप में स्वीकार कर भारतीय संस्कृति में पंच महायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ तथा नृयज्ञ) का विधान किया गया है।
ईशावास्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र में जो त्यागपूर्वक भोग की बात कही गयी है, वह भी गीता के यज्ञीय दर्शन से मेल खाती है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यास्विद्धनम्।।[10]

जीवन के परम लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिए अन्तःकरण की शुद्धि परम आवश्यक है क्योंकि नित्य शुद्ध–बुद्ध रूप परमात्मा निर्मल अन्तःकरण में ही वास करते हैं और अन्तःकरण के निर्मल होने में त्याग की बड़ी भूमिका है और त्याग ही यज्ञ है क्योंकि 'इदन्नमम्' द्वारा अहन्ता और ममता का त्याग ही यज्ञ सिद्ध होता है।
अन्तःकरण की शुद्धि के लिए हमें अपनी इन्द्रिय रूपी अग्नि में इन्द्रिय विषयों की सतत् आहुति देनी होती है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि का श्रवण, स्पर्श तथा दर्शन करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों में राग–द्वेष रहित होकर न्यायोचित सेवन करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण की शुद्धि से 'प्रसन्नता' का अनुभव होता है। उस 'प्रसन्नता' से समस्त दुःखों का नाश होकर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है – 'प्रसन्नचेतसो हि आशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'[11] और परमात्मा स्वरूप में स्थित पुरूष की अन्यत्र आसक्ति परमात्मदर्शन से शान्त हो जाती है –

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।[12]

इस प्रकार इन्द्रिय रूपी अग्नि में विषय रूपी द्रव्यों की आहुति देने वाले पुरूष के लिए विषय सुख रात्रि के समान हो जाते हैं – 'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।' इस प्रकार यज्ञ साधना करते करते अन्त में परमात्मा प्राप्ति द्वारा परम पुरूषार्थ की प्राप्ति होती है।
इस प्रकार यज्ञ एक व्यवस्थित एवं आदर्श लक्ष्य के लिए होने वाला कर्म है और अपने दूसरे रूप में आत्मशुद्धि की क्रिया है। सृष्टि के आरंभ से लेकर प्राणिमात्र एवं प्रकृति की घटनाओं में व्याप्त यज्ञ प्रणाली के प्रति सजग होकर हम जीवनशैली को प्रकृति के साथ लयबद्ध कर सकते हैं और समग्ररूप से जीवन का विकास कर सकते हैं। यज्ञ अर्पण द्वारा आरोहण की क्रिया है जिसमें मानव की चेतना निम्न से उच्च व उच्चतर रूपों को प्राप्त करती है जो आत्मशुद्धि की सूक्ष्म प्रक्रिया है। इससे मानव का आत्मकल्याण तो होता ही है, समाज का कल्याण भी यज्ञमय जीवन में निहित है।

संदर्भ सूची

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.10,11, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई।
2. यजुर्वेद – 31.9
3. यजुर्वेद – 23.62
4. अथर्ववेद – 12.1.1
5. श्रीमद्भगवद्गीता, 9.16, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई।
6. वही, 4.32
7. वही, 3.14
8. वही, 18.5
9. वही, 3.9
10. ईशावस्योपनिषद – 01
11. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.65, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, मुम्बई।
12. वही, 2.59